



द्रव्यदृष्टि प्रकाशमें से दृष्टि का परिणमन और द्रष्टि का विषय सम्बन्धित पूज्य श्री निहालचंद्रजी सोगानीजी के चयन किये गये वचनामृत

‘दृष्टि’ वस्तु का अवलंबन क्या लेती है!! - वह तो समूची वस्तु को ग्रास कर जाती है; पूरी की पूरी वस्तु में व्याप्त हो जाती है; मालिक बन जाती है। मालिक कहने में भी भेद आ जाता है, ‘दृष्टि’ तो स्वयं ही उस वस्तुरूप है। ४४२.

(एक समय का) अनंत आनंद का वेदन आवे - वह भी ‘मैं; (त्रिकाली तत्त्व) नहीं हूँ; क्योंकि वेदन का ‘मेरे’ में (त्रिकाली में) अभाव है। ‘मैं’ एक समय के वेदन में आ जाऊँ तो ‘मेरा’ नाश हो जाए। (‘मैं’ एक समय की पूर्ण पर्याय जितना ही नहीं हूँ, लेकिन पूर्ण पर्याय से भी अधिक हूँ - ऐसा कहने का भाव है।) ४६७.

दृष्टि तो हर समय अपने को पूर्ण ही देखती है। मुनि भी ऐसा कहते हैं कि ‘हम तो पामर हैं’ लेकिन उन्हें तो अपनी खिली हुई परिणति का मुक्राबला पूर्ण (स्वरूप) के साथ करते हुए, अपनी पामरता लगती है - इस अपेक्षा से (अपने को पामर) कहते हैं। दृष्टि तो साधक-बाधकपना ही नहीं स्वीकारती है। ४७०.

मिथ्यात्व हो या सम्यक्त्व हो, यह देखो ही मत! ‘मैं तो ध्रुव तत्त्व हूँ’ - यह आते ही मिथ्यात्व-पर्याय भी निश्चय से-नियम से चली जाएगी। दृष्टि के निर्णय में पूर्ण शुद्धि भरी हुयी है। (दृष्टि के विषयभूत स्वस्वरूप में पूर्ण शुद्धि भरी है, अतः उसके निर्णय में भी अर्थात् निर्णय के गर्भ में भी पूर्ण शुद्धि का सत्त्व है। स्वरूपनिर्णय के काल में नियम से स्वरूप अस्तित्व का ग्रहण होता है और स्वभाव के संस्कार ऐसे पड़ते हैं कि जिसके फलस्वरूप सिद्धपद प्रगट होगा ही। ऐसे दृष्टि के विषयभूत स्वस्वरूप का निर्णय होते ही सभी अवस्थाओं के प्रति उपेक्षा सहज ही हो जाती है।) ४८०.

यह ध्रुवतत्त्व किसीको नमता (झुकता) ही नहीं है। खुद की सिद्धपर्याय को भी नहीं नमता। ४८१.

स्वानुभूतिप्रकाश

वीर संवत्-२५४६: अंक-२७३, वर्ष-२४, सितम्बर-२०२०

आषाढ कृष्ण ६, शुक्रवार, दि. ८-७-१९६६, योगसार पर
पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी का प्रवचन, गाथा-७८ प्रवचन-२९

अब, ७८, तीन को छोड़कर तीन गुण विचारे।
तिहिं रहियउ तिहिं गुण सहिउ जो अप्पाणि वसेइ।
सो सासय सुह भायणु वि जिणवरूएम
भणेइ।।७८।।

‘राग-द्वेष-मोह से रहित होकर...’ पहले दो
लिये थे - राग-द्वेष। यह मोह (कहकर तीन कहे)। मोह
(अर्थात्) मिथ्यात्व। राग-द्वेष और मिथ्यात्व तीन को
छोड़कर, ‘तीन गुण - सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र सहित
आत्मा में जो निवास करता है...’ जो कोई
मिथ्यात्वभाव छोड़कर अपनी आत्मा में सम्यग्दर्शनसहित
निवास करता है, राग-द्वेष छोड़कर स्वरूप की स्थिरता
में निवास करता है, आत्मा में स्थिररूप निवास करता
है, ‘वह अविनाशी सुख का भाजन होता है।’ वह
पात्र हो गया। अब केवलज्ञान प्राप्त करने का पात्र हो
गया। समझ में आया? यहाँ तो सत्य-निश्चय की बात
है न! यह व्यवहार को तो याद करना नहीं है, वह तो
बीच में विकल्प आता है, वह तो बन्ध का कारण है।

जिसे आत्मा की परमानन्ददशारूपी मुक्ति की
चाहना है, जिसे आत्मा की अनन्त आनन्दरूपी मुक्ति
की चाहना है, उसे राग-द्वेष-मोह का लक्ष्य छोड़कर
अपने भगवान आत्मा का दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट करना।
आहा...हा...! अनादि से स्वयं की आँख बन्द है और

अनादि से पर को देखता है। पर को देखने की आँख
बन्द करके अपने को देखना - ऐसा कहते हैं। समझ में
आया? भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्य-आनन्दकन्द प्रभु,
उसे अनादि से अपने ज्ञानचक्षु बन्द करके, कभी देखा
नहीं। राग-द्वेष, पुण्य-पाप, शरीर, वाणी, मन, भोग -
ऐसा देखा, वह तो अज्ञान है। एक बार अपने ज्ञान नेत्र
को खोलकर, ज्ञान नेत्र को खोलकर अपने चैतन्य
आनन्दकन्द स्वरूप को देखकर प्रतीति करना, उसका
ज्ञान करना और उसमें लीन होना, इसका नाम सम्यग्दर्शन-
ज्ञान-चारित्र है, वह मुक्ति का पात्र है। भाजन कहा है
न? भाजन। शाश्वत् सुख का भाजन है। अल्पकाल में
उसे शाश्वत् सुख की प्राप्ति होगी।

मुमुक्षु : लगावे तब आँख खुले न?

उत्तर : लगावे कौन? आत्म स्वयं लगावे। अपने
ज्ञाननेत्ररूप चक्षु आत्मा स्वयं खोले, दूसरा कौन खोले?
क्या करे? गुरु अपनी पर्याय करे, दूसरे का क्या करे?

मुमुक्षु :

उत्तर : कौन धारता है? यह तो निमित्तरूप से
उपदेश हो, तब होता है। आहा...हा...! ‘कर विचार तो
पाम’ - आता है या नहीं? श्रीमद् में आता है न? भाई!
कर विचार, एक ही शब्द उन्होंने रखा है।

शुद्ध-बुद्ध चैतन्यघन स्वयं ज्योति सुखधाम।

बीजू कहिये केटलू कर विचार तो पाम।।
कर तो तू पाये। हम कहते हैं तो पाये - ऐसा है
इसमें?

मुमुक्षु : इतना तो कहा न कि कर विचार तो पाम?
उत्तर : परन्तु कहा किसने? सुना किसने? समझा
कौन? हो गया? समझा यह और समझाया इसने? यह

इष्टोपदेश में नहीं आया?
यह आ गया है? गुरु किसे
कहते हैं कि जो स्वयं चक्षु
खोलता है और जो अपने
को समझाता है, वह स्वयं;
स्वयं अपना गुरु है।
आहा...हा...! समझ में
आया? इष्टोपदेश में आया
है या नहीं? कि गुरु किसे
कहना? जो आत्मा अपने
हित को चाहता है, हित
को बताता है, और हित के
फल के लिये अपने में

प्रार्थना करता है, उसे गुरु कहते हैं। सुना है या नहीं? यह
आ गया है। हित को चाहे, हित को समझाये-समझे और
हित में वर्तन करे। लो, ठीक है? यह गुरु का लक्षण
दिया है। 'इष्टोपदेश' 'पूज्यपादस्वामी'। 'कुन्दकुन्दाचार्य'
के शिष्यों में 'उमास्वामी' ने 'तत्त्वार्थसूत्र' बनाया है,
उसकी जिन्होंने टीका बनायी - 'सर्वार्थसिद्धि टीका',
मोक्षशास्त्र की। वे पूज्यपादस्वामी कहते हैं। व्यवहार
शास्त्र की टीका बनायी। वे इष्टोपदेश में कहते हैं - अपने
को उपदेश दे, मोक्ष की इच्छा करे और मोक्ष के भाव
को समझावे तथा उसमें वर्तन करे, वह गुरु है।

मुमुक्षु : यह तो निश्चय गुरु कहे?

उत्तर : तब उस व्यवहार को व्यवहार कहा जाता
है। यह वस्तु हो तो दूसरे को व्यवहार कहते हैं। कहा है

न! दूसरा कहा परन्तु कब? यह होवे तब न? निश्चय
होवे तब ऐसा कहा जाता है कि इस गुरु से हमें प्राप्त
हुआ - ऐसा बोला जाता है। 'गोम्मटसार' में मुनि भी
ऐसा कहते हैं - हमारे गुरु से हम भवसागर तिर गये। वे
स्वयं तिरे उसका उत्साह बताते हैं, समझ में आया?
होंश को क्या कहते हैं? उत्साह, उत्साह। 'गोम्मटसार'

में 'नेमिचन्द्र सिद्धान्त
चक्रवर्ती' में (आता है।)
उल्लास... अपना
उल्लास... ओ...हो...!
प्रभु! आपके प्रताप से हम
भवसागर तिर गये हैं,
अब हमारे भव नहीं होंगे।
आहा...हा...!

मुमुक्षु : ...

उत्तर : यह तो
निमित्त से ऐसे ही कथन
आते हैं। भाषा, ऐसी
व्यभिचारी भाषा है। यह

गोम्मटसार में ऐसा आता है, अन्त में यह शब्द है। है या
नहीं? लाओ न, भाई! पाठ तो लाओ, समय पर आवे
तो शोभे, नहीं तो क्या शोभे? क्यों? ईई...! निहालभाई!
लोग ऐसा कहते हैं कि समय पर आवे तो मण्डप शोभेगा
- ऐसा कहते हैं न? विवाह में मण्डप करते हैं न?
बहिन-लड़कियाँ लिखती हैं समय पर आना, भानेज को
सबको लेकर (आना), मण्डप की शोभा बढेगी। यह
सब संसार की बातें ऐसी हैं। मण्डप, मण्डप डालते हैं
न? मण्डप, निमन्त्रण पत्रिका में ऐसा लिखते हैं। मण्डप
कहते हैं? यहाँ काठियावाड़ में 'माण्डवो' कहते हैं।
(गोम्मटसार में) ४३६ गाथा है। लो, जो चाहिए वह
पृष्ठ आया, अण्डरलाईन किया है। देखो,.... वीरेन्द्र
नन्दी नामक आचार्य का शिष्य ऐसा मैं, नेमिचन्द्रसिद्धान्त



चक्रवर्ती, गोमटसार का कर्ता। 'वीर नन्दी' नामक आचार्य का मैं शिष्य ग्रन्थकर्ता नेमिचन्द्र हूँ। शास्त्र शिक्षादायक गुरु चरणों के प्रसाद से, शास्त्र शिक्षादायक गुरु चरणों के प्रसाद से अनन्त संसार समुद्र के पार को प्राप्त हुआ। उन श्रुतगुरु अभयनन्दी आचार्य को नमस्कार करता हूँ। देखो, उन्हें निश्चय भी हो गया है कि अल्प काल में मेरा संसार नष्ट होगा। संसार है नहीं - यह पञ्चम काल के मुनि कहते हैं। ४३६ गाथा है। समझे? 'अनंत संसार जलही उतीनो' अनन्त संसार के समुद्र को पार पा गया हूँ। स्वयं की साक्षी है न? तत्पश्चात् कहते हैं, हे प्रभु! आपके चरण-कमल की सेवा से मैं यह प्राप्त हुआ हूँ - ऐसी विनय की भाषा है। उसमें भगवान के पैर सेये थे? पैर दबाये थे? उन्होंने कहा वैसा भाव अपने में प्रगट कर, मैं संसार से पार हुआ हूँ। प्रभु! आपकी मुझ पर कृपा है। भाषा तो ऐसा बोले न! विनयवन्त प्राणी कैसे बोलेगा? समझ में आया ओ...हो...! फिर दश करण का व्याख्या ली है। दश करण आते हैं न? स्वयं का आह्लाद प्रसिद्ध करते हैं। समझ में आया?

'कुन्दुन्दाचार्यदेव' ने भी कहा है। अहो...! सर्वज्ञ भगवान से लेकर हमारे गुरु पर्यन्त महा आत्मा में लीन, विज्ञानघन में लीन थे। विज्ञानघन में लीन ऐसे हमारे भगवान और फिर हमारे गुरु ने हमें कृपा करके उपदेश दिया। शुद्ध आत्मा का उपदेश दिया। लो! संक्षिप्त शब्द-शुद्धात्मा का उपदेश! भगवान! तू शुद्धात्मा है, परमानन्द है, बस! उसमें विचार करके स्थिर हो, समझ में आया? जिन्होंने अपने पुरुषार्थ से प्रगट किया, उसे गुरु की कृपा हुई - ऐसा कहा जाता है। कहो समझ में आया?

(यहाँ पर) कहते हैं कि 'तीन गुण सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र सहित आत्मा में जो निवास करता है...' देखो जो आत्मा में निवास करता है (-ऐसा कहा है) पुण्य-पाप के जो व्यवहार-विकल्प हैं, उनका निवास

छोड़कर, आहा...हा...! भगवान आत्मा ही मुक्तस्वरूप है। मुक्तस्वरूप ही है। राग से-बन्धन से रहित अबन्धस्वभावी भगवान आत्मा है, उसमें सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की पर्याय, उसके आश्रय से प्रगट करके आत्मा में बसना, आत्मा में बसना। सम्यग्दर्शन-ज्ञान से आत्मा में बसना, आहा...हा...! समझ में आया? भगवान आत्मा परमानन्द की मूर्ति परमात्मा अपना निज स्वरूप के अन्तर में स्वसन्मुख की श्रद्धा, स्वसन्मुख का ज्ञान, स्वसन्मुख में लीनता इन तीनों से आत्मा में बसकर मुक्ति का पात्र हो जा। आहा...हा...!

'अप्पाणि जो वसेइ' शाश्वत् सुख का भाजन होता है। 'जिणवरु एम भणेइ' है न? जिणवर वीतराग परमेश्वर, त्रिलोकनाथ तीर्थकरदेव समवसरण की सभा में भगवान ऐसा कहते थे, परमात्मा ऐसा फरमाते थे। बाकी तो वाणी आती थी। बोले कहाँ?

'सम्यग्दृष्टि जीव को यह निश्चय होता है कि आठों ही कर्म का बन्ध आत्मा के स्वभाव से भिन्न है।' आठों ही कर्मों का बन्ध मुझसे भिन्न है। दृष्टि में आत्मा कर्म से भिन्न ही है। उसकी शंका, उसे स्वयं को ही रहती है, उस शंका को तोड़नेवाला तो वह है। मैं आठ कर्म से रहित भगवान आत्मा हूँ। आठ कर्म सहित तो व्यवहार का लक्ष्य है, उतना। स्वभाव के लक्ष्य में आठ कर्म से रहित हूँ, वर्तमान, हाँ! वर्तमान। आहा...हा...! कितनी दृष्टि के जोर से यह स्वीकृति आती है! वह जोर किसमें पड़ा है? आत्मा में इतना जोर पड़ा है। पूर्ण बल पड़ा है, आत्मा में पूर्ण बल पड़ा है। पूर्ण... पूर्ण... पूर्ण... ऐसे पूर्ण बल का स्वामी आत्मा, उसकी प्रतीति, ज्ञान में ऐसा आना कि मैं आठ कर्म से रहित हूँ। यह वह क्या है? मैं विकार, पुण्य-पाप के विकार से मैं रहित हूँ, मैं शरीर-वाणी, नोकर्म से भी पृथक् हूँ। किस पुरुषार्थ गति में यह बात ज्ञान में आती है? आहा...हा...! समझ में आया? अल्पज्ञ, अल्पदर्शी,

रागादि और निमित्त का सम्बन्ध होने पर भी उड़ा दे! दृष्टि उसका स्वीकार नहीं करती। मैं आठ कर्म से रहित पूर्णानन्द हूँ। कर्म शरीर से रहित हूँ, वाणी से रहित हूँ, विकार से रहित हूँ। समझ में आया? - ऐसे आत्मा का अन्तर स्वभाव, अपना स्वभाव पर से भिन्न जानना। (फिर) आठ कर्म की बात ली है।

‘जैसे विवेकी जीव मलिन पानी में निर्मली डालकर...’ निर्मली समझे? औषधि आती है न? ‘मिट्टी को पानी से अलग करके निर्मल पानी को पीता है, वैसे ही ज्ञानी जीव भेदविज्ञान के बल से...’ अपने शुद्ध ध्रुवस्वरूप तरफ लक्ष्य करके पुण्य-पाप के राग से हटकर, राग और स्वभाव की एकता को तोड़कर, पर से भिन्न भेदज्ञान के बल से... देखो! बल से... मैं शुद्ध चैतन्य पदार्थ भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द हूँ - इस प्रकार राग और विकल्प से भेदज्ञान के बल से... समझ में आया?

‘राग-द्वेष-मोह को आत्मा से भिन्न करके वीतराग विज्ञानमय आत्मा का अनुभव करता है।’ उस पुरुषार्थ की गति कितनी है? आहा...हा...! कौन करता है? समझ में आया? जिस दृष्टि में वर्तमान अवस्था अल्पज्ञ, रागवाली होने पर भी और उसमें कर्म का निमित्त होने पर भी, वह दृष्टि अन्तर में अल्पज्ञ, राग और कर्म के सम्बन्ध से रहित मैं हूँ - ऐसा भेदज्ञान करके अपने स्वरूप में वीतरागपने का अनुभव करती है। समझ में आया? वह अल्प काल में मोक्ष को प्राप्त करता है। जरा लम्बी बात की है।

‘व्यवहारनय से देखने पर संसारी जीवों में भेद दिखता है।’ व्यवहार से भेद दिखता है। बहुत दृष्टान्त दिये हैं, मित्र, शत्रु दिखता है। स्वभाव की दृष्टि हो तो कोई शत्रु-मित्र नहीं है। व्यवहार से यह मित्र और शत्रु (है ऐसा कहा जाता है)। माता और पिता व्यवहार से दिखते हैं। आत्मा के माता-पिता कैसे? आत्मा को

किसी ने उत्पन्न किया है तो वास्तविक माता-पिता है? निश्चय से भगवान माता-पिता रहित, शत्रु-मित्र की दृष्टि रहित है। व्यवहार से दिखता है परन्तु उस दृष्टि को बदलकर निश्चय से देखने की दृष्टि करना। पुत्र-पुत्री व्यवहार से (कहे जाते हैं)। स्वामी, सेवक। स्वामी और सेवक व्यवहार से है। ध्याता-ध्येय व्यवहार से। सुन्दर, असुन्दर... यह सुन्दर, असुन्दर भेद व्यवहार है। आत्मा के स्वभाव की दृष्टि में यह भेद नहीं है। आहा...हा...!

व्यवहार से ऐसा होने पर भी निश्चयदृष्टि से देखने से स्वभावधारी भगवान पर का जानने-देखनेवाला ही है, भेद करनेवाला नहीं। रोगी, निरोगी... व्यवहार कहता है यह रोगी, निरोगी है। दो-दो भंग (लिये हैं)। धनिक-निर्धन, विद्वान्-मूर्ख, बलवान-निर्बल, कुलीन-अकुलीन, साधु-गृहस्थ, यह भी व्यवहार के भेद हैं। स्वभाव की दृष्टि में भेद नहीं है, अभेद अखण्डानन्द प्रभु पूर्णानन्द से भरा आत्मा (है) ऐसी दृष्टि से देखने से भेद नहीं। समझ में आया? ऐसी दृष्टि से देखना वह निश्चय सम्यग्दृष्टि है।

राजा-प्रजा, देव-नारकी, पशु-मानव, स्थावर-त्रस, सूक्ष्म-वादर, पर्याप्त-अपर्याप्त, प्रत्येक-साधारण, पापी-पुण्यात्मा, लोभी-संतोषी, मायावी-सरल, मानी-विनयवाला यह सब व्यवहार है। क्रोधी कपटवाला, स्त्री-पुरुष, बालक और वृद्ध, अनाथ-सनाथ, सिद्ध और संसारी, ‘ग्रहण करने योग्य और त्यागने योग्य का भेद मिलता है।’ व्यवहार में से देखो तो ग्रहण करने योग्य और त्यागने योग्य दिखता है। समझ में आया? ‘वहाँ विषय भोग का लोलुपी और कषाय का धारक जीव इष्ट के प्रति राग और अनिष्ट के प्रति द्वेष करता है। बाहर के व्यवहार में दिखता यह सारा जगत राग, द्वेष मोह उत्पन्न करने का निमित्त बन जाता है। इसलिये ज्ञानी को राग, द्वेष मोह भावों की मलिनता नहीं हो इसलिये निश्चय

में से जगत को देखना चाहिए।' सभी द्रव्य है, परिपूर्ण पदार्थ भगवान आत्मा है आहा...आहा...! शत्रु मित्र ऐसा भेद नहीं है, मूर्ख विद्वान का भेद नहीं है, माता-पिता का (भेद) नहीं है। ध्यान-ध्याता का नहीं है। आह...! एक वस्तु अभेद चिदानन्दस्वरूप है - ऐसी दृष्टि का अभ्यास करना। समझ में आया।

'सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र तीनों आत्मा के गुण हैं। आत्मा स्वभाव से यथार्थ प्रतीति का धारक है।' ये तीन गुण लिये न? तीन। भगवान आत्मा वास्तविक रूप से यथार्थ प्रतीति का धारक ही है। उसका स्वभाव यथार्थ श्रद्धा-प्रतीति धारक आत्मा है। उसमें से यथार्थ प्रतीति निकालने की है। है उसमें से निकालना है, उसमें क्या है? - ऐसा कहते हैं। समझ में आया। भगवान आत्मा यथार्थ प्रतीति का धारक है।

'स्व को स्व और पर को पर यथार्थ मानने वाला है...' ऐसा ही है। स्व को स्व और पर को पर - ऐसा श्रद्धान करने का उसका वैसा त्रिकाल स्वभाव है। वस्तु ऐसा है न! यह दर्शन की बात की। 'लोकालोक के सर्व द्रव्य-गुण-पर्यायों को एक साथ जानने वाला है।' सर्व लोक और अलोक - छह द्रव्य उनके गुण और पर्यायों को एक साथ जाननेवाला है - ऐसा उसका स्वभाव है। 'चारित्र गुण से वह परम वीतराग है।' समझ में आया? 'रत्नत्रयस्वरूप यह आत्मा अभेददृष्टि से एकरूप है।' ऐसा। वे तीन भेद कहे परन्तु रत्नत्रय-दर्शनज्ञान-चारित्र रत्नत्रय स्वरूप यह आत्मा अभेद दृष्टि से एकरूप है। दर्शन-ज्ञान और चारित्र का भेद भी दृष्टि का विषय-अभेद में नहीं है।

'शुद्ध स्फटिक के समान निर्मल है।' भगवान आत्मा शुद्ध स्फटिक की तरह अन्दर निर्मलानन्द प्रभु है। 'परम ज्ञान, परम शान्त और परमानन्दमय है। इस प्रकार बारम्बार अपने आत्मा का ध्यान करना; फिर परिणामों की स्थिरता होने पर स्वयं

आत्मानुभव प्रगट होगा। यही मोक्ष का मार्ग है।' उस शुद्ध स्वरूप की बारम्बार ऐसी भावना करने से अनुभव होगा, उसका नाम ही मोक्ष का मार्ग है। दूसरा कोई मार्ग नहीं है। मोक्षमार्ग के लिये इन्हें ठीक बैठा है। निमित्त में जरा गड़बड़ आती है। कहो, समझ में आया।

'समयसार' में यह दृष्टान्त दिया है। 'मैं अपने द्वारा ही अपने आत्मा के शुद्ध रस से पूर्ण चैतन्य प्रभु का अनुभव करता हूँ।' कलश है। 'मैं अपने द्वारा ही...' मेरे आत्मिक शुद्ध रस से, आत्मिक शुद्ध रस से पूर्ण चैतन्य प्रभु मैं हूँ, उसका अनुभव करता हूँ। 'मैं केवल शुद्ध ज्ञान का भण्डार हूँ, मुझे मोह कर्म के साथ बिल्कुल कोई सम्बन्ध नहीं है।' जो श्लोक बोलते हैं वही है न? 'मोह कर्म ममनाहिं, नाहिं भ्रम कूप है, शुद्ध चेतना सिन्धु हमारो रूप है। कहे विचक्षण पुरुष सदा मैं एक हूँ।' धर्मी अपने आत्मा का ऐसा विचार करता है। 'कहे विचक्षण पुरुष सदा मैं एक हूँ, अपने रसों भ्रष्टो अनादि टेक हूँ।' अनादि से मेरा स्वरूप ऐसा है। 'मोह कर्म मम नाहिं, नाहिं भ्रम कूप है; शुद्ध चेतना सिन्धु हमारो रूप है।' आहा...! बनारसीदास ने इस कलश से हिन्दी बनाया है, हिन्दी बनाया है। समझ में आया। 'शुद्ध चेतना सिन्धु हमारो रूप है।' वह भ्रम कूप है, पुण्य पाप के विकल्प को अपना मानना है भ्रम कूप है। मिथ्यात्व का कुआँ है। भगवान शुद्ध चैतन्य का समुद्र है। शुद्ध चेतना का सिन्धु...सिन्धु...सिन्धु। ऐसी अन्तर में अपने आत्मा की दृष्टि करने का नाम सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान कहा जाता है। यह ७८ (गाथा पूरी हुई।)



पूज्य भाईश्री शशीभाई द्वारा परमागमसार
ग्रंथके वचनामृत-१५१ पर भाववाही
प्रवचन, दि. ४-२-१९८३, प्रवचन
क्रमांक-६५७ (विषय : मार्गदर्शन)

आनंदकंद प्रभुके आस्वादन बिना अशुद्धभाव
नहीं छूटते और अशुद्ध संस्कार छूटे बिना
स्वरूप का अनुभव नहीं होता। रागसे
एकताके संस्कार छूटे बिना शुद्ध स्वरूपका
अनुभव नहीं होता और शुद्धस्वरूप का
अनुभव हुए बिना रागसे एकताके संस्कार
नहीं छूटते। महिमावन्त प्रभुकी ऐसी महिमा
भासित हुए बिना तुच्छता और पामरता
के संस्कार नहीं छूटते और तुच्छता तथा
पामरता के संस्कार छूटे बिना महिमावन्त
प्रभुकी महिमा नहीं होती। अतः अशुद्धताका
व्यय एवम् शुद्धताकी उत्पत्तिका एक ही
काल है। १६७.

आत्माकी महिमाका विषय चल रहा है। समयका
ख्याल नहीं रहा। महिमाका विषय है न? 'महिमावन्त
प्रभुकी ऐसी महिमा भासित हुए बिना तुच्छता
और पामरता के संस्कार नहीं छूटते...' फिर भी
आत्माकी महिमा नहीं आती है और इसीलिये पामरताके
संस्कार छूटेंगे नहीं। तो क्या करना? यहाँ थोड़ी उलझन
हो ऐसा है। अस्ति-नास्तिसे बात ली है, उसमें भी
प्रयोजन है।

'तुच्छता तथा पामरता के संस्कार छूटे
बिना महिमावन्त प्रभुकी महिमा नहीं होती।' तो
कहते हैं कि तुझे भगवान आत्मा की महिमा नहीं आती
है, वह महिमा आये ऐसी तेरी भावना है, तो उसका भी
उपाय है। उसका उपाय नहीं है ऐसा नहीं। उसका उपाय
वह है, यह दूसरे पदमें है कि 'तुच्छता तथा पामरता
के संस्कार छूटे बिना महिमावन्त प्रभुकी महिमा
नहीं होती।' अतः तू जहाँ खड़ा है, जहाँ तेरे परिणाम
दीनतासे परिणामते हैं, लाचारीसे परिणामते हैं उसे छोड़नेके
लिये तेरे वर्तमान अनुभवको तू देख। उसे जाँच, उसे देख
और ज्ञानमें उसे टालनेके प्रयोजनसे अवलोकने पर,
देखने पर, जाँचने पर उस परिणामका रस मंद हुए बिना

नहीं रहता।

परिणाम विषय सिद्धांतमें, उसमें खासकरके विकारी
विभावरूप परिणामके विषयमें ऐसा सिद्धांत है कि जिसे
विभावसे दूर होना हो, जिसे विभाव मिटाना हो, जिसे
विकारको नष्ट करना हो वह, यदि उस परिणाम होनेके
कालमें जागृत रहे कि, अरे...! यह परिणाम चाहता नहीं
हूँ और हो जाता है, तो होता है वह कोई मुफ्तमें नहीं
होता। यह जीव उन-उन विषयोंको महत्ता देता है, सुखका
कारण जानता है, सुखबुद्धि पड़ी है इसीलिये हो जाते हैं।
इच्छा नहीं होने पर भी हो जाते हैं, इसका कारण क्या?
कि सुखबुद्धि पड़ी है वह उसका कारण है।

विचार करके, जागृतिमें आकर उस परिणामका

अवलोकन करे तो ज्ञानकी अवलोकन करनेकी शक्ति उसके विभावरसको मंद करती है। और कोई भी विभावका रस मंद हो तब उसे नष्ट करना आसान हो जाता है। तीव्र रसमें कोई विभाव नष्ट नहीं हो सकता। विभावरस है वह पर सम्बन्धित रस है और पर-रस फिका पड़ता है तभी उसका ज्ञानदर्पण थोड़ा निर्मल होता है कि जिसमें उसे ज्ञानका ज्ञानरस उत्पन्न होनेका अवकाश होता है अथवा ज्ञानमें स्वयंका ही ज्ञानस्वरूप-ज्ञानस्वभाव प्रतिभासित होनेका अवकाश होता है। अतः जो दूसरा पद है वह, उस विषयमें है।

‘तुच्छता तथा पामरता के संस्कार छूटे बिना महिमावन्त प्रभुकी महिमा नहीं होती।’ जीव पामरताके परिणाममें खड़ा है। वह दीनतासे परपदार्थमें और परभावमें सुखकी वांछा करता है, सुखकी अभिलाषा करता है, वहाँ यदि वह जागृत हो कि यह भूल हो रही है ऐसा मैं समझा हूँ, अब जाँच करना कि मेरी यह भूल कैसे हुई? यदि मुझे ऐसा समझमें आया है तो उस समझको मैं मेरे अनुभवके साथ मिलान करके देखूँ और उस समझको मैं भूल टालनेके लिये लागू करूँ तो उसका, जो परिणाम हो गये वह तो हो गये, जो हो गये वह नहीं हुए ऐसा नहीं होगा, लेकिन उसका रस मंद पड़े बिना नहीं रहेगा। यदि उसका रस इस तरह मंद पड़े अर्थात् उसकी तुच्छता, पामरता और दीनता सम्बन्धित रस गले तो उसे शुद्धात्माका रस आनेकी संभावना है।

किस तरह संभावना है? अब यहाँसे शुरू करना चाहिये। तो उसे जैसा ज्ञानका-आत्माका स्वरूप है, ज्ञानका स्वरूप यानि आत्माका जैसा स्वरूप है ऐसा उसे प्रतिभासित यानि कि पहचान (हो)...

... ऐसा दिखाव हो गया हो कि मानो कोई लोहेका टुकड़ा है। हर जगह काला-काला लग गया हो। और वह बाहर निकले तब उसे लोहेकी भाँति सँभाले बिना कहीं भी पड़ा हो। ऐसेमें कहीं टकराये, टकरा जाये, गिर जाये

और अंदरसे चमक, कहीं टकराने पर चमक दिखे और चमके। टकरानेसे चमक दिखे और चमके कि यह पीला-पीला चमकदार लोहेमें से कहाँसे दिखाई दे रहा है? शंका होती है, सब प्रक्रिया...

दुःखसहितपना है और परद्रव्य तो सुख-दुःखसे रहित है। सुखसे भी रहित है और दुःखसे भी रहित है। वह तो जड़ है। तब उसकी अल्प भी कीमत नहीं लगती। वह भाव और द्रव्य उसे तुच्छ लगते हैं। स्वयंकी कीमत के आगे उसकी तुच्छता भासती है तब उसे परपदार्थका आकर्षण सम्यक् प्रकारसे, निज स्वरूपकी महिमाके कारण सम्यक् प्रकारसे छूटता है। वह एक ही कालमें बनता है।

सर्वप्रथम, विचारमें इस प्रकार रस फिका करनेका प्रोसेस जरूर होता है। परन्तु जैसा शुद्धात्मा उसे पहचानकर महिमामें आता है, तभी उसके परपदार्थ प्रतिके संस्कार छूट जाते हैं। संस्कार शब्द लिया है। रस गलता है तब तक अभी संस्कार जाते नहीं। परन्तु रस गलने पर जहाँ शुद्धात्मा ज्ञानमें आता है, स्वयं ही पूर्ण परमात्मा है ऐसा जब उसे समझमें आता है, भास्यमान होता है तब उसे इस जगतमें निज पद सर्वोत्कृष्ट भासित होता है। वहाँ तक की कहीं भी उसे दीनता करना पोसाता नहीं। देव-गुरु-शास्त्र प्रतिके भक्तिके परिणामकी दीनपनेकी वृत्ति (हो), लेकिन उसका उसे निषेध आता है। ठीक! जगतके पदार्थ और विषय प्रति तो सुखकी और दीनताकी वृत्ति गई है, साथ-साथ गुणमें महान है ऐसे जो देव-गुरु-शास्त्र उनके प्रति भी दीनताकी वृत्ति उसे पोसाती नहीं।

सोगानीजी तो यह बात बहुत जोरसे करते थे। भगवानको वंदना करना, गुरुको वंदन करना यह दीन परिणाम है। ऐसा। ‘दीन भयो प्रभु पद जपे, मुक्ति कहाँसे होय’ ऐसा कहते थे। भले तू भगवान.. भगवान.. भगवान.. भगवान करता है, अन्य भगवानको। और उनका नामस्मरण करता है, परन्तु दीन होकर मत करना, ऐसा कहते हैं।

तेरे परमात्मपदकी उत्कृष्टताकी स्थापना ज्ञानमें हो तो उस वृत्तिका निषेध आये बिना नहीं रहेगा और उस वृत्तिका नाश होकर तुझे मुक्तदशा प्रगट होगी। ऐसा कहना है।

मुमुक्षु :— देव और गुरु भी ऐसा ही कहते हैं।

पूज्य भाईश्री :— वे भी ऐसा कहते हैं कि हमारा नामस्मरण करनेकी तुझे कोई आवश्यकता नहीं है। तू स्वयं सिद्ध है, सिद्धपद है। बस! उसमें स्थिर हो जा। उसमें सब आ गया। 'णानसहावाधियं मुणदि आदं'। आत्माको ज्ञानस्वभावसे अधिक स्थापित करने पर तीर्थकरकी स्तुति होती है। यह तो जवाब दिया है। भगवानकी सच्ची स्तुति-निश्चय स्तुति यह है कि उन्होंने जो आज्ञा की है, उस आज्ञा अनुसार परिणमन होना, वह उनकी आज्ञा मानना है, वह उनकी आज्ञाका अंगीकार करना है और उसीमें उनका बहुमान समाया है। उनकी आज्ञा माननेसे उनका बहुमान होता है। आज्ञा विरुद्ध जानेसे उनका बहुमान नहीं रहता। ऐसा है। यह महिमाका विषय पहचानके साथ सम्बन्ध रखता है और तब उसे पामरताके संस्कार छूट जाते हैं।

मुमुक्षु :— तीन स्तर लिये। अशुद्ध संस्कार छूटना, रागकी एकताके संस्कार छूटे और तीसरा लिया, तुच्छताके संस्कार।

पूज्य भाईश्री :— हाँ, संस्कार-संस्कार शब्द लेते हैं। देखो! इस प्रवचनमें पहलेसे संस्कारकी बात है। 'आनंदकं द प्रभुके आस्वादन बिना अशुद्धभाव...' अशुद्धताके संस्कार, ऐसा शब्द लेते हैं। अशुद्धभाव छूटते नहीं, ऐसा लिया है न? उस अशुद्धभावमें क्या कहना है? अशुद्ध संस्कार है वह छूटने चाहिये। अन्यथा अशुद्धता तो रहती है बारहवें गुणस्थान पर्यंत। लेकिन यहाँ, जहाँ निर्विकल्प आनंदरसका स्वाद आया (वहाँ) मूलमें अशुद्धताके संस्कार छूट जाते हैं। फिर ऊपरकी अशुद्धता बाकी रह जाती है।

फिर यहाँ ऐसा लिया, 'एकताके संस्कार छूटे

बिना...' ऐसा। 'रागसे एकताके संस्कार छूटे बिना शुद्ध स्वरूपका अनुभव नहीं होता...' वहाँ भी संस्कार शब्दप्रयोग किया है। यहाँ भी 'तुच्छता तथा पामरता के संस्कार छूटे बिना महिमावन्त प्रभुकी महिमा नहीं होती।' तीनों जगह संस्कार पर वजन दिया है।

मुमुक्षु :— ...

पूज्य भाईश्री :— हाँ, उसके मूलमें जो बात है वही छूटनी चाहिये। मूल बदल जाये। सम्यग्दर्शनकी महिमा इसीलिये है। 'दंसण मूलो धम्मो'। पूरे सिद्धपदका आविर्भाव होना, सिद्धपद प्रगट होना, उसका यदि कोई मूल हो तो वह सम्यग्दर्शन है। जो कोई आत्मा परमात्मदशाको प्राप्त हुए, मुक्तिको प्राप्त हुए, ऐसा जो साक्षात् महान सिद्धपद, तीनों लोकमें सर्वोत्कृष्ट, त्रिलोकीनाथ पद जिसको कहते हैं, उसका मूल सम्यग्दर्शन है और वह बहुत मजबूत मूल है। वह, अनंत-अनंत कालसे परिभ्रमण कर रहे जीवके जितने भी विरुद्ध संस्कार है उसे मूलमें से वह खलास करता है। नहीं तो यह एक प्रश्न हो सके ऐसा है कि अरे..! इस जीवकी भूतकालकी विद्यमानता देखी जाये तो उसका अधिकांश समय तो निगोदमें गया है।

कोई भी जीवके अस्तित्वके भूतकालकी जाँच की जाये तो उसका अधिकांश समय तो निगोदमें गया है। त्रसकी त्रसपर्यायकी स्थिति तो बहुत अल्प है। अनंत कालकी अपेक्षा त्रसपर्यायकी स्थिति तो अत्यंत अल्प है। क्योंकि वह भी क्वचित् ही मनुष्य होता है। तब उसकी अवस्थामें जो मलिनता एवं अशुद्धताके संस्कार है, वह तो उसने प्रचुर कलंकके संस्कार तो अनंत-अनंत कालसे पोसा है। उसे होते ही रहे हैं। ऐसी जो दृढ़ हो गयी है, गाढ़ हो गयी है ऐसी अशुद्धता कैसे नष्ट हो? कि एक सम्यग्दर्शनसे नष्ट होगी। 'दंसण मूलो धम्मो'। मूल जो, धर्मका मूल जो पूरा परमात्मपद और सिद्धपदका मूल

यह सम्यग्दर्शन है। इस मूलके स्थानमें वह भाव होनेसे सम्यग्दर्शनके परिणाम-भाव मूलके स्थानमें होनेसे उसकी विशेष महत्ता है कि वहाँसे धर्मका वृक्ष पनपता है।

श्रीमद्जीने वह बात ली है कि जो ज्ञान भवहेतुरूप हो रहा था... देवोंको, नारकियोंको अवधिज्ञान होता है परन्तु वह कुअवधिज्ञान होता है। जब तक मिथ्यादर्शन सहित अवधिज्ञान होता है, मति-श्रुतके अतिरिक्त जो अवधिज्ञानका उघाड़ है, परन्तु मिथ्यादर्शन सहित मति, श्रुत और अवधिका विशेष उघाड़ हो तो भी वह ज्ञान राग-द्वेषका निमित्त होकर और भवहेतु रूप होता है। सम्यग्दर्शन होनेसे एक ही समयमें वह ज्ञान जात्यांतर होकर भव निवृत्ति रूप हो जाता है। एक समयमें जिसने ज्ञानको... उसका वही उघाड़ है, हाँ!

मिथ्यादृष्टि जीवको मतिज्ञानका बहुत उघाड़ हो, श्रुतज्ञानका बहुत उघाड़ हो और अवधिज्ञानका बहुत उघाड़ हो वह, मिथ्यादर्शन सहित उसे बहुत अनेक भवोंके बंधनका कारण होता है। यदि उसी जीवको उसी स्थितिमें सम्यग्दर्शन हो तो एक समयमें ज्ञानकी जाति पलट जाती है। वही उघाड़, वैसा का वैसा उघाड़ जो भवबंधका कारण होता था वही, भवनिवृत्तिके कारण

रूप हो जाता है।

मुमुक्षु :— सम्यग्दर्शनके कारण।

पूज्य भाईश्री :— सम्यग्दर्शनके कारण। एक समयमें जिसने ज्ञानको जात्यांतर किया। श्रीमद्जी तो ऐसा कहते हैं कि उस सम्यग्दर्शनको मैं नमस्कार करता हूँ। ऐसे कल्याणमूर्ति सम्यग्दर्शनको नमस्कार हो! ऐसे शब्द लिये हैं। यदि कल्याणमूर्ति सम्यग्दर्शनको नमस्कार हो सकता है तो उसके स्वामी ऐसे आत्माको भी नमस्कार हो! सम्यग्दृष्टि आत्माको भी नमस्कार हो! ऐसा है। यदि सम्यग्दृष्टिको नमस्कार है उसका अर्थ कि सम्यग्दर्शनको नमस्कार है। यदि सम्यग्दृष्टि आत्माको नमस्कारका निषेध करनेमें आये तो उसमें सम्यग्दर्शनका निषेध है। वह आत्माका निषेध नहीं है अपितु उसमें सम्यग्दर्शनका निषेध है। ये बहुत बड़ी बात है।

‘अतः अशुद्धताका व्यय एवम् शुद्धताकी उत्पत्तिका एक ही काल है।’ यह सारांश है। तात्पर्य यह है कि अशुद्धता जानेका और शुद्धता होनेका समय एक है। अंधकार जानेका और प्रकाश होनेका समय एक है। पीछेसे होता है ऐसा नहीं। १६७ बोल पूरा हुआ।

उत्तम क्षमा

दसलक्षण पर्युषण पर्व प्रसंग पर, भावलिंगी संत महा मुनिराजकी साधनाको स्मरणमें लेकर, हम भी उस साधनाके योग्य हो इस भावनाके साथ, समग्र वर्ष दरम्यान जिन मुमुक्षु भाई-बहनोंको मन-वचन-कायाके योगसे, दुषित भावसे दुःख पहुँचा हो तो उन सबकी शुद्ध अंतःकरण पूर्वक क्षमा याचना करते हैं।

- स्वानुभूतिप्रकाश परिवार

पूज्य बहिनश्री की वीडियो तत्वचर्चा
मंगल वाणी-सी.डी. ७- A

मुमुक्षु :- जब अनुभव होता है, उन दोनों के बीच कौन-सी सिढीयाँ आती है? और उसका खुद को कैसे ख्याल आये कि हम सच्चे मार्ग पर है?

समाधान :- क्या? बाह्य वस्तु का ज्ञान हो?

मुमुक्षु :- बहिरलक्ष्यी ज्ञान में वस्तु का स्वरूप समझ में आये और अनुभव हो, इन दोनों के बीच कौन-कौन-सी सिढीयाँ आती है?

समाधान :- बाह्यलक्ष्यी ज्ञान में तो वह विचार करे, निर्णय करे इत्यादि सब अन्दर आता है। सत्य स्वरूप क्या है? बाह्यलक्ष्यी ज्ञान यानि? अंतर तो रुचि होनी चाहिये, अपने स्वरूप की रुचि होनी चाहिये, स्वभाव को पहचानना चाहिये। बाह्यलक्ष्यी ज्ञान यानि अपने स्वरूप को पहचानना चाहिये। ज्ञानस्वभाव में हूँ, मैं यह विभाव नहीं हूँ, मेरा स्वभाव भिन्न है, विभाव मेरा स्वरूप नहीं है, भेदज्ञान की रुचि होनी चाहिये, उसप्रकार की उसकी महिमा होनी चाहिये, वैराग्य होना चाहिये। अंतर विभावेसे वैराग्य होना चाहिये। वह सब अन्दर आता है। लगनी लगे, आत्मा के बिना कहीं सुहाये नहीं, यह सब अन्दर होना चाहिये। सच्ची जिज्ञासा होनी चाहिये। बारंबार.. स्वरूप के बिना चैन पड़े नहीं। विचार करे, वांचन करे। शुभभावों में यह सब होना चाहिये। अंतर ध्येय आत्मा का होना चाहिये। अनुभव तो खुद ज्ञायकस्वभाव को पहचाने, भेदज्ञान हो, ज्ञाताधारा की उग्रता हो तो अनुभव होता है।



मुमुक्षु :- बहिरलक्ष्यी ज्ञान में तो समझ में आ गया कि यह करने जैसा है, लेकिन ऐसा नक्की करने के बाद अनुभव हो, उसके बीच कोई सिढीयाँ आती है? हमें कैसे मालूम पड़े कि हम आगे बढ़ते हैं। यह प्रश्न है।

समाधान :- बाह्यलक्ष्यी ज्ञान में विचार करे। खुद को मालूम पड़े, सच्ची रुचि हो तो। मैं किस मार्गपर आया हूँ? अंतर की रुचि आत्मा की ही है, दूसरी रुचि नहीं है। आत्मा ही चाहिये, अन्य कुछ नहीं चाहिये। सिढीयाँ यह आती है।

अपनी रुचि कितनी है वह खुद पहचाने। खुद को आत्मा की महिमा कितनी है, बाह्य महिमा कितनी छूट गई है, कितनी अंतरसे विरक्ति हुई है, सत्य तत्त्व समझने की कितनी रुचि है, द्रव्य-गुण-पर्याय का स्वरूप सत्य स्वरूप पहचानने में आता है या कुछ भूल होती है? अन्दरसे यह सब विचारकर निर्णय करे। द्रव्य-गुण-पर्याय का स्वरूप, मुक्ति का स्वरूप, सम्यग्दर्शन का स्वरूप, सब का स्वरूप विचारसे नक्की करे। केवलज्ञान का स्वरूप। खुद को मालूम पड़ता है। खुद सत्य समझता है, झूठा समझता है।

सच्ची जिज्ञासा हो तो समझे। आत्मा की ही लगनी लगी हो तो समझे। नहीं तो झूठे में ऐसा मान ले कि मैं तो सत्य समझता हूँ। ऐसा भी हो जाये। यदि सच्ची लगनी नहीं हो तो उसे ऐसा हो जाये। सिढीयाँ तो अनेक प्रकार की आती है। रुचि मंद हो, तीव्र हो, पुरुषार्थ करे, आगे बढ़े। खुद के परिणाम खुद पहचाने, दूसरा कोई पहचाने नहीं। खुद आगे बढ़ रहा है या पीछे जा रहा है, वह सब

खुद पहचाने खुद को, दूसरा कोई पहचाने नहीं। बाहरसे मालूम नहीं पड़ता।

सच्चा निर्णय है या नहीं है, अन्दर खुद की दृढ़ता कितनी है, अपने विचार में भूल हो रही है, क्या हो रहा है, सब लगनी के साथ जिज्ञासा हो तो समझ में आता है। नहीं तो उसे ऐसा लगता है मैं सब समझ गया हूँ। समझ लिया है, अब तो पुरुषार्थ करना बाकी है। द्रव्य-गुण-पर्याय का स्वरूप समझने में कहाँ क्षति है, वह खुद की सच्ची लगनी नहीं हो तो कुछ मालूम नहीं पड़ता। तो उसे कुछ भ्रम हो जाता है। खुद बहुत ध्यान करता हो तो, मुझे कुछ प्रगट हुआ है, ऐसा भी मान ले। सच्चा निर्णय करे तो हाँ, वह तो ऐसे ही है, ऐसा हो जाये। उसकी महिमा कितनी आनी चाहिये, वह सब खुद समझे। सच्ची जिज्ञासा हो तो समझे, नहीं तो भूल होती है। थोड़े में ज्यादा मान ले ऐसा हो जाये। कोई उसकी वाह-वाह करे तो अन्दर मान चढ़ जाये। ऐसी तो अनेक प्रकार की सीढ़ियाँ बीच में आती है। मुझे करना बाकी है यह भूल जाये और मुझे तो बहुत आता है, ऐसा सब बीच में हो जाये। आत्मार्थी हो तो यह सब गौण करके आगे जाये।

मुमुक्षु :- स्वरूप का भावभासन और आत्मा का अनुभव, दोनों एक है या अंतर है?

समाधान :- भावभासन और अनुभव। भाव तो उसने ग्रहण किया, स्वभाव को अन्दरसे पहचान लिया। और अनुभूति तो उसकी परिणति स्वरूप में जम गई है। भासन यानि उसे ज्ञान में आया, जैसा भाव है वैसा उसने ग्रहण किया। स्वभावभाव को ग्रहण किया। (अनुभव में) तो स्वरूप में जम गया है। अनुभव अलग है और भावभासन अलग है। दोनों में अंतर है। भाव का भासन मात्र होता है। दूसरे में उसे अनुभूति होती है। भाव उसे ग्रहण होता है कि इस स्वभावसे मैं हूँ। (अनुभव में) तो साक्षात् परिणति, साक्षात् अनुभूति होती है। जैसा है वैसा स्वरूप में जम जाता है। अनुभूतिसे आत्मा पहचानता है, पहले में भासनसे पहचानता है।

मुमुक्षु :- अनुभव के पहले भावभासन होता है?

उत्तर :- हाँ, पहले भावभासन होता है।

मुमुक्षु :- भावभासन में ज्ञान की मुख्यता और अनुभूति में चारित्र की मुख्यता, ऐसे लेना?

समाधान :- भावभासन में भले ज्ञान की मुख्यता हो, उसमें चारित्र की मुख्यता है ऐसा नहीं है। सच्ची सम्यक् परिणति ही अनुभूति के काल में होती है। इसमें तो उसे भावभासन हुआ है। अभी उसे परिणति प्रगट नहीं हुई है। सम्यक् नाम उसे परिणति प्रगट हो तब नाम दिया जाता है।

मुमुक्षु :- भावभासन होने के बाद सम्यक्त्व होता ही है, ऐसा है?

समाधान :- यथार्थ हो तो होता है। कारण यथार्थ हो तो कार्य आये।

मुमुक्षु :- धारणाज्ञान और भावभासन में अंतर है?

समाधान :- धारणाज्ञान में वह विचारसे नक्की करता है, युक्तिसे, न्यायसे। (भावभासन में) उसे अंतर में उसप्रकार का बस, यह ज्ञानस्वभाव है वही मैं हूँ। स्वभाव के आधारसे ही वह नक्की करता है कि यह ज्ञानस्वभाव है वही मैं हूँ। इसप्रकार उसके स्वभाव के आधारसे नक्की करता है कि यह ज्ञान.. ज्ञान.. हो रहा है वह मैं हूँ, अन्दर ज्ञायक है वह मैं हूँ। इसप्रकार भाव के आधारसे नक्की करता है (वह) भावभासन है। विचार, युक्तिसे, दलीलसे नक्की करे वह विचारसे नक्की (किया)। इसमें खुद को भाव में भासित होता है कि यह ज्ञायक है वह मैं हूँ।

मुमुक्षु :- धारणाज्ञान में युक्ति और न्यायसे नक्की किया होता है और भावभासन में स्वरूप पहचानकर..

समाधान :- स्वरूप को, अन्दर भाव को पहचानकर नक्की करता है।

मुमुक्षु :- धारणाज्ञान सच्चा हो फिर भी भावभासन नहीं हो ऐसा भी बनता है?

समाधान :- धारणाज्ञान में भावभासन होता ही है ऐसा नहीं है। धारणा करके नक्की किया है।

मुमुक्षु :- धारणाज्ञान, केवल तोतेवाला ज्ञान नहीं। सिर्फ धारणा कर ली, युक्ति और न्यायसे।

समाधान :- धारणा मात्र (यानि) सब समझ लिया, याद रख लिया। धारणा का अर्थ सब याद रख लिया। विचारसे नक्की किया। जो शास्त्र में आता है, जो गुरुदेवने कहा है, वह सब धारणा कर ली। लेकिन उसे खुद को अन्दर भाव में बिठाना कि यह ज्ञायक है वह मैं हूँ, वह बाकी रह जाता है।

मुमुक्षु :- ज्ञान के स्वरूपसे ज्ञायक को पकड़े तो वह भावभासन है?

समाधान :- ज्ञान के स्वरूपसे ज्ञायक को पकड़े वह भावभासन है। चारित्र-स्वरूपाचरण चारित्र निर्विकल्प दशा में है। लेकिन उसे चारित्र की मुख्यता नहीं कह सकते। उसमें तो श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र सब साथ में है। और भावभासन तो सम्यग्दर्शन होनेसे पहले का एक कारण है। चारित्र नाम तो सम्यग्दर्शन होने के बाद आगे बढ़े तब चारित्र गिना जाता है। यह तो स्वरूपाचरण चारित्र, जो सम्यग्दर्शन के साथ होता ही है, उसमें वह समाविष्ट होता है।

मुमुक्षु :- माताजी! .. राग होता है लेकिन राग का रस नहीं होता। यह बात आपके श्रीमुखसे .. राग का रस किसे कहना? राग तो ख्याल में आता है कि राग तो होता है, राग का रस उनको नहीं होता। ऐसे बाहरसे देखे तो रस पकड़ में नहीं आता। तो आपके श्रीमुखसे समझना है कि रस किसे कहना?

समाधान :- उसे राग का रस (नहीं होता), अंतरसे न्यारा रहता है। राग आता है उसी क्षण यह राग मेरा स्वरूप नहीं है, मैं तो ज्ञायक हूँ, वीतराग स्वरूप हूँ, यह राग मेरा स्वरूप नहीं है। रागसे भिन्न रहता है। राग में एकता करके यह राग करने जैसा ही है, ऐसा नहीं है। रागसे भिन्न रहता है। करने जैसा है ऐसा तो नहीं है लेकिन उससे भिन्न रहता है। उसका रस नहीं है। यह सब शुभाशुभ प्रत्येक भाव, प्रशस्तसे भी वह भिन्न रहता है।

इसीलिये कहींपर भी उसे रस (नहीं आता), सबसे भिन्न ही रहता है। उसे उसप्रकार का रस नहीं है। उतनी एकत्वबुद्धि होती नहीं, उसे अंतरमेंसे रस उतर गया है। सबमें उसे आकुलता ही लगती है। उससे रस ऊतर गया है। बस, एक मेरा आत्मा ज्ञायक। उसका ही रस है। वही निवृत्तमय सुखस्वरूप है। यह सब आकुलतारूप है। रागसे भिन्न रहता है, उससे साक्षीभावसे रहता है। उसका रस उतर गया है। चाहे जैसे उच्च कोटि के भाव हो तो भी भिन्न रहता है।

मुमुक्षु :- ज्ञानी का भिन्नरूप रहना, उसका नाम उनको राग का रस नहीं है, ऐसे लेना?

समाधान :- रस नहीं हो तो ही भिन्न रह सकता है। जिसे रस होता है वह राग के साथ एकत्व हो जाता है। जिसे रस नहीं है वही उतना भिन्न रह सकता है। भिन्न रहता है वही (बतलाता है कि) उसे राग का रस नहीं है। इसीलिये वह भिन्न रह सकता है। रस जिसे होता है वह भिन्न नहीं रह सकता।

मुमुक्षु :- एक ऐसी परिभाषा की जाती है कि राग हुआ और राग में उसे मजा आता है, तो उसे वहाँ एकताबुद्धि हुई, उसे राग का रस है। तो मजा आती है वह किस लक्षणसे (पहचाने)?

समाधान :- राग की एकत्वबुद्धि वही उसका रस है। रागसे भिन्न नहीं होता। बहुत जीव वैरागी होते हैं। उसे संसारसे वैराग्य आया है। उसे कहीं रस नहीं रहा है और उसे कोई अशुभवार्थों का राग नहीं है। इसीलिये वैरागी है। इसीलिये वह तो विरक्त दिखाई देता है, सब दिखता है। त्यागकर चला जाऊँ, ऐसी भावना होती है। लेकिन शुभभाव का राग है। उस शुभवार्थों में उसे ऐसा राग है कि एकताबुद्धि जैसा राग है। यह सब मानो कि सर्वस्व हो, ऐसा राग है। इसीलिये उसे राग खड़ा ही है। एक ओरसे विरक्त दिखाई देता है, लेकिन दूसरी ओर ऐसा रस है। इसीलिये वह रागसे भिन्न नहीं हुआ। इसीलिये राग का रस है ही।

कितने ही जीव तो वैरागी होते हैं। उसे अच्छा भी नहीं मानते, उसे छोड़ने जैसा मानते हैं। यह सब संसार आकूलतारूप दुःखरूप है ऐसा मानते हैं। सब दुःखरूप है, सब अनित्य है। ऐसे वैरागी दिखे कि उसे कहीं भी रस नहीं आता, रस ऊड़ गया है। ऐसा दिखे। लेकिन जो शुभभाव होते हैं, उस शुभभाव में उसे उसप्रकार की ऐसी एकत्वबुद्धि होती है। इस कारणसे एक ओर एकत्वबुद्धि है तो उसे सबमें एकत्वबुद्धि है। वैराग्य आया है वह वैराग्य भी उसे सब प्रकारसे, चारों ओरसे नहीं है। इसीलिये वह राग को आदरणीय मानता है, ऐसा है।

मुमुक्षु :- उसे अशुभ का भी रस है ऐसा कह सकते हैं?

समाधान :- सब प्रकार का रस अन्दर है। उसके उपयोग में उसे पकड़ में नहीं आता, लेकिन अन्दर पड़ा है। कोई हेतुसे उसे छूट गया है कि यह दुःखरूप है, इसका फल अच्छा नहीं है, इसका फल नरक, निगोद है, यह सब अनित्य है। कोई भी हेतुसे सब छूटा है। लेकिन अपना स्वभाव पहचानकर छूटा नहीं है। इसीलिये सब पड़ा है। फिर देवलोक या ऐसा कुछ मिले तो फिरसे राग उत्पन्न होता है। अन्दरसे छूटा नहीं है इसीलिये।

मुमुक्षु :- चैतन्य का ग्रहण हो, उसे ही वास्तव में राग का रस नहीं है ऐसा कहा जाये।

समाधान :- चैतन्य का ग्रहण हो तब ही राग का रस (छूट जाता है)। प्रत्येक भावपरसे रस छूट जाये तो ही उसे रस छूटा है। चैतन्य का ग्रहण हो, चैतन्य की रुचि हो। भले उसे भावनारूप है, एकत्व परिणति छूटकर जो होता है वह अलग है। लेकिन उसे भावनारूप है कि कोई विकल्प का अंश मुझे सुखदायक नहीं है। कुछ भी आदरणीय नहीं है। ऐसी रुचि अन्दर हो, चैतन्य को ग्रहण करे तो उसे भावनारूपसे वैसा रस छूट गया है।

मुमुक्षु :- फिर कोई बार अशुभ में रस वेदता हो ऐसा भी दिखे।

समाधान:- दिखता है, लेकिन जिसे शुभमेंसे छूट गया, उसे अशुभभावोंमेंसे तो अमुक प्रकारसे तो छूटा ही होता है-उसकी रुचि में। लेकिन वह बाहर में किसी चीजसे छोड़ नहीं सकता हो। वह उसे आदरणीय नहीं होता। जो शुभमेंसे भिन्न होना चाहता हो, उसे अशुभमेंसे छूटना (ही है), अन्दरसे उसे वैराग्य होता है। परंतु कोई कारणसे छूट नहीं पाता हो। रुचि अपनी ओर होनी चाहिये।
मुमुक्षु :- जिसे रुचि में शुभभाव भी छूट गया हो, उसे रुचि में अशुभभाव तो होता ही नहीं। फिर अपनी कुछ कमजोरी के कारण..

समाधान:- स्वयं खड़ा हो, ऐसे गृहस्थाश्रम के कार्य में खड़ा है।

मुमुक्षु :- भावना में इसप्रकारसे रस छूट सकता है।

समाधान :- हाँ, भावना में छूट सकता है। आदरणीय एक चैतन्य ही है, अन्य कुछ भी आदरणीय नहीं है। एक चैतन्य ही ग्रहण करने योग्य है, दूसरा कुछ भी ग्रहण करने योग्य नहीं है। गुरुदेवने जो मार्ग कहा और जो स्वयं को अन्दरसे बैठा, बस, एक चैतन्य ही ग्रहण करने जैसा है, अन्य कुछ भी ग्रहण करने जैसा नहीं है। बाकी सब हेय है, एक चैतन्य आदरणीय है। शुभभाव बीच में (आते हैं), अशुभभावसे बचने के लिये शुभभाव आते हैं। देव-गुरु-शास्त्र की ओरके शुभभाव आते हैं, लेकिन चैतन्य की अपेक्षासे कुछ भी आदरणीय नहीं है, चैतन्य ही आदरणीय है और वही महिमावंत है।

मुमुक्षु :- भावनासे राग का रस छूटता है, उसमें ज्ञान तो सम्यक् नहीं है। वहाँ पकड़ना कि वास्तव में भावनासे छूटा है, फिर भी बाहर में भावनासे सचमुच छूटा है, ऐसा निर्णय होने में थोड़ा..

समाधान :- खुद कहाँ खड़ा है वह खुद को ग्रहण करना पड़ता है कि स्वयं कैसे छूटा है, अन्दर चैतन्य की महिमा आकर चैतन्य ओर की श्रद्धा कैसी है, रुचि कैसी है, वह खुद को खुद का विचार करना रहता है।

तू मिथ्यात्व छोड़नेके लिये जी-जानसे प्रयत्न कर

मरण तो आना ही है जब सब कुछ छूट जायेगा। बाहरकी एक वस्तु छोड़नेमें तुझे दुःख होता है, तो बाहरके समस्त द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव एकसाथ छूटने पर तुझे कितना दुःख होगा? मरणकी वेदना भी कितनी होगी? 'कोई मुझे बचाओ' ऐसा तेरा हृदय पुकारता होगा। परन्तु क्या कोई तुझे बचा सकेगा? तू भले ही धनके ढर लगा दे, वैध-डॉक्टर भले सर्व प्रयत्न कर छूटें, आसपास खड़े हुए अनेक सगे-सम्बन्धियोंकी ओर तू भले ही दीनतासे टुकुर-टुकुर देखता रहे, तथापि क्या कोई तुझे शरणभूत हो ऐसा है? यदि तूने शाश्वत स्वयंरक्षित ज्ञानान्दस्वरूप आत्माकी प्रतीति-अनुभूति करके आत्म-आराधना की होगी, आत्मामें से शांति प्रगट की होगी, तो वह एक ही तुझे शरण देगी। इसलिये अभीसे वह प्रयत्न कर। 'सिर पर मौत मंडरा रहा है' ऐसा बारम्बार स्मरणमें लाकर भी तू पुरुषार्थ चला कि जिससे 'अब हम अमर भये, न मरेंगे' ऐसे भावमें तू समाधिपूर्वक देहत्याग कर सके। जीवनमें एक शुद्धात्मा ही उपादेय है। (बहिनश्रीके वचनामृत-४१२)

भवभ्रमण चलता रहे ऐसे भावमें यह भव व्यतीत होने देना योग्य नहीं है। भवके अभावका प्रयत्न करनेके लिये यह भव है। भवभ्रमण कितने दुःखोंसे भरा है उसका गंभीरतासे विचार तो कर। नरकके भयंकर दुःखोंमें एक क्षण निकलना भी असह्य लगता है वहाँ सागरोपम कालकी आयु कैसे कटी होगी? नरकके दुःख सुने जाएँ ऐसे नहीं हैं। पैरमें काँटा लगने जितना दुःख भी तुझसे सहा नहीं जाता, तो फिर जिसके गर्भमें उससे अनन्तानन्तगुने दुःख पड़े हैं ऐसे मिथ्यात्वको छोड़नेका उद्यम तू क्यों नहीं करता? गफलतमें क्यों रहता है? ऐसा उत्तम योग पुनः कब मिलेगा? तू मिथ्यात्व छोड़नेके लिये जी-जानसे प्रयत्न कर, अर्थात् साता-असातासे भिन्न तथा आकुलतामय शुभाशुभ भावोंसे भी भिन्न ऐसे निराकुल ज्ञायकस्वभावको अनुभवनेका प्रबल पुरुषार्थ कर। यही इस भवमें करने योग्य है।

(बहिनश्रीके वचनामृत-४१६)

ट्रस्ट के इस स्वानुभूतिप्रकाश के हिन्दी अंक (सितम्बर-२०२०) का शुल्क श्री धर्मेन्द्रभाई वोरा, भावनगर के नाम से साभार प्राप्त हुआ है। जिस कारण से यह अंक सभी पाठकों को भेजा जा रहा है।



श्रद्धा सुमन

श्री हीरालालजी काला, कुचामणके रहने वाले, बचपनसे पूज्य गुरुदेवश्रीके संपर्कमें आनेके बाद पूज्य गुरुदेवश्री द्वारा प्ररूपित वीतराग देव-शास्त्र-गुरुके पूर्ण श्रद्धानपूर्वक शरण अंगीकार किया। लघु वयसे ही उनको सत्शास्त्र स्वाध्याय प्रति रुचि रही। वे, उनके पिताजीके अंत समय नादुरस्त स्वास्थ्यके समय, उनको मोक्षमार्गप्रकाशकमें से स्वाध्याय कराते थे।

उनके मूल वतन कुचामणमें जब पूज्य गुरुदेवश्री पधारने वाले थे, तब भी गाँववासियोंके प्रबल विरोधके बीच भी उन्होंने हिम्मतपूर्वक पूज्य गुरुदेवका भव्य स्वागत एवं रथयात्राका आयोजन किया एवं तत्त्वज्ञानका लाभ लिया। भावनगर जिनमंदिर निर्माण कार्यमें उनका योगदान भी महत्त्वपूर्ण रहा। उस वक्त उन्होंने पूज्य गुरुदेवश्री प्रतिकी भक्ति एवं जिनवाणी प्रतिकी भक्तिमें योगदान दिखाई दे रहा है।

जिनवाणी प्रति उनकी बेहद भक्तिके कारण उन्होंने, वीतराग सत् साहित्य प्रसारक ट्रस्टकी स्थापना की और जिनवाणी प्रकाशका मंगल कार्य प्रारंभ किया, जो आज भी चालू है। जिनवाणी प्रतिकी बेहद भक्तिके कारण उन्होंने पूरे हिन्दुस्तानमें स्थित जिनवाणी भण्डारमें जो पाँडुलिपियाँ थी उनको सुरक्षित करनेका कार्य भी किया। अंतिम वर्षोंमें पूज्य भाईश्री शशीभाईके साथ वे विदेशमें जिनवाणीकी खोजके लिये गये थे। जब भी उनके समक्ष जिनवाणी प्रकाशनकी बात आती, तब वे हमेशा प्रसन्नतापूर्वक प्रकाशित करते थे।

उनके जीवन दरम्यान अनेक मुमुक्षु उनके संपर्कमें आते थे और हमेशा वे घर लेकर जाते थे, उनकी सर्व प्रकारकी समुचित व्यवस्था बिठा देते थे। यह उनका साधर्मी प्रतिका वात्सल्यका दृष्टांत है। कोई भी जीव देव-गुरु-शास्त्रके समीप आता हो तो हमेशा उसके साथ खड़े रहते थे और मन-वचन-कायासे सर्व प्रकारसे सहायक होते थे। उनके जीवन दरम्यान जब मरणतुल्य अकस्मात् की घड़ीमें भी उनका निजात्म तत्त्वका प्रेम आविर्भूत हुआ। जब पूज्य गुरुदेवश्रीको यह बात ज्ञात हुई तो उन्होंने मुक्त कंठसे प्रशंसा की। जिनवाणीके प्रति तो उनको प्रेम था ही, परंतु सत्पुरुष प्रति उनकी अर्पणता भी अनुमोदनीय है। उनके जन्म-दिवस पर पूज्य बहिनश्री उनकी निवासस्थान पर स्वीकृति देते थे और वे हमेशा भावपूर्वक पूज्य बहिनश्रीको आहारदान भी देते थे। ऐसा अमूल्य लाभ भी उनको प्राप्त हुआ है। सोनगढ़में निर्मित गुरु-गौरव (पूज्य सोगानीजी स्मारक भवन)में भी उनका अमूल्य योगदान रहा है।

ऐसे अनेकानेक प्रसंग उनकी देव-गुरु-शास्त्र प्रति एवं तत्त्वकी प्रीतिको प्रसिद्ध करते हैं। उनका वियोग ट्रस्टके समस्त सदस्योंको एवं मुमुक्षुओंको साले, यह स्वाभाविक है। इस प्रसंग पर स्वानुभूतिप्रकाश परिवार उनके प्रति भावभीनी श्रद्धांजली अर्पित करता है और उनके कुटुंबीजनोंके प्रति सांत्वना प्रेषित करता है। सद्गत आत्मा शीघ्रातीशीघ्र आत्म कल्याण साधकर शाश्वत सुख-शांतिको प्राप्त करे यही भावना।

—स्वानुभूतिप्रकाश परिवार

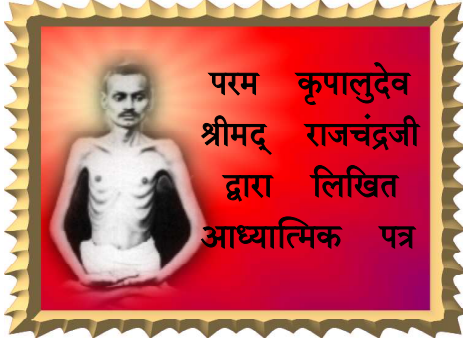
पराभक्ति है। परममहात्म्या गोपांगनाएँ महात्मा वासुदेवकी भक्तिमें इसी प्रकारसे रही थीं। परमात्माको निरंजन और निर्देहरूपसे चिंतन करनेपर जीवको यह लय आना विकट है, इसलिये जिसे परमात्माका साक्षात्कार हुआ है, ऐसा देहधारी परमात्मा उस पराभक्तिका परम कारण है। उस ज्ञानी पुरुषके सर्व चरित्रमें ऐक्यभावका लक्ष्य होनेसे उसके हृदयमें बिराजमान परमात्माका ऐक्यभाव होता है, और यही पराभक्ति है। ज्ञानीपुरुष और परमात्तामें अंतर ही नहीं है, और जो कोई अन्तर मानता है उसे मार्गकी प्राप्ति परम विकट है। ज्ञानी तो परमात्मा ही है, और उसकी पहचानके बिना परमात्माकी प्राप्ति नहीं हुई है, इसलिये सर्वथा भक्ति करने योग्य ऐसी देहधारी दिव्य मूर्ति-ज्ञानीरूप परमात्माकी-का नमस्कार आदि भक्तिसे लेकर पराभक्तिके अंत तक एक लयसे आराधना करना, ऐसा शास्त्रका आशय है। परमात्मा इस देहधारीरूपसे उत्पन्न हुआ है ऐसी ही ज्ञानी पुरुषके प्रति जीवको बुद्धि होनेपर भक्ति उदित होती है, और वह भक्ति क्रमशः पराभक्तिरूप हो जाती है। इस विषयमें श्रीमद्भागवतमें, भगवत्गीतामें बहुतसे भेद प्रकाशित करके इसी लक्ष्यकी प्रशंसा की है; अधिक कया कहना? ज्ञानी तीर्थकरदेवमें लक्ष्य होनेके लिये जैनधर्ममें भी पंचपरमेष्ठी मंत्रमे 'णमो अरिहंताणं' पदके बाद सिद्धको नमस्कार किया है, यही भक्तिके लिये यह सूचित करता है कि पहले ज्ञानी पुरुषकी भक्ति; और यही परमात्माकी प्राप्ति और भक्तिका निदान है।

दूसरा एक प्रश्न (एकसे अधिकबार)आपने ऐसा लिखा था कि व्यवहारमें व्यापार आदिके विषयमें यह वर्ष यथेष्ट लाभदायक नहीं लगता, और कठिनाइ रहा करती है।

परमात्माकी भक्ति ही जिसे प्रिय है, ऐसे पुरुषको ऐसी कठिनाई न हो तो फिर ऐसा समझना कि उसे सच्चे परमात्माकी भक्ति ही नहीं है। अथवा तो जान-बुझकर परमात्माकी इच्छारूप मायाने वैसी कठिनाई भेजनेके कार्यका विस्मरण किया है। जनक विदेही और महात्मा कृष्णके विषयमें मायाका विस्मरण हुआ लगता है, तथापि ऐसा नहीं है। जनक विदेहीकी कठिनाईके विषयमें यहाँ कुछ कहना योग्य नहीं है, क्योंकि वह अप्रगट कठिनाई है, और महात्मा कृष्णकी संकटरूप कठिनाई प्रगट ही है। इसी तरह अष्ट महासिद्धि और नवनिधि भी प्रसिद्ध ही है; तथापि कठिनाई तो योग्य ही थी, और होनी चाहिये। यह कठिनाई मायाकी है, ओर परमात्माके लक्ष्यकी तो यह सरलता ही है और ऐसा ही हो। राजाने विकट तप करके परमात्माका आराधन किया, और देहधारीरूपसे परमात्माने उसे दर्शन दिया और वर माँगनेको कहा तब राजाने माँगा कि हे भगवन्! ऐसी जो राज्यलक्ष्मी मुझे दी है वह ठीक ही नहीं है, तेरा परम अनुग्रह मुझपर हो तो यह वर दे कि पंचविषयकी साधनरूप इस राज्यलक्ष्मीका फिरसे मुझे स्वप्न भी न आये। परमात्मा दंग रहकर 'तथास्तु' कहकर स्वधामको चले गये।

कहनेका आशय यह है कि ऐसा ही योग्य है। भगवतभक्तको कठिनाई और सरलता तथा साता एवं असाता यह सब समान ही हैं। और फिर कठिनाई और असाता तो विशेष अनुकूल हैं कि जहाँ मायाके प्रतिबंधका दर्शन ही नहीं होता।

आप तो इस बातको जानते ही हैं तथापि कुटुम्ब आदिके विषयमें कठिनाई होनी योग्य नहीं है ऐसा मनमें उठता हो तो उसका कारण यही है कि परमात्मा यों कहता है कि आप अपने कुटुम्बके प्रति निःस्नेह हों, और उसके प्रति समभावी होकर प्रतिबन्ध रहित हों, वह आपका है ऐसा न मानें, और प्रारब्धयोगके कारण ऐसा माना जाता है, उसे दूर करनेके लिये मैंने यह कठिनाई भेजी है। अधिक कया कहना? यह ऐसा ही है।



२२२

बंबई, फागुन वदी ११, १९४७

ज्योतिषको कल्पित कहनेका हेतु यह है कि यह विषय पारमार्थिक ज्ञानकी अपेक्षासे कल्पित ही है; और पारमार्थिक ही सत् है, और उसीकी रटन रहती है। अभी ईश्वरने मेरे सिरपर उपाधिका बोझ विशेष रख दिया है, ऐसा करनेमें उसकी इच्छाको सुखरूप ही मानता हूँ। जैन ग्रंथ इस कालको पंचमकाल कहते हैं और पुराण ग्रंथ इसे कलिकाल कहते हैं, यों इस कालको कठिन काल कहा है, इसका हेतु

यह है कि जीवको इस कालमें 'सत्संग और सत्शास्त्र'का योग मिलना दुर्लभ है, और इसीलिये कालको ऐसा उपनाम दिया है।

हमें भी पंचमकाल अथवा कलियुग अभी तो अनुभव देता है। हमारा चित्त निःस्पृह अतिशय है; और जगतमें सस्पृहके रूपमें रह रहे हैं, यह कलियुगकी कृपा है।

२२३

बंबई, फागुन वदी १४, बुध, १९४७

देहाभिमाने गलिते, विज्ञाते परमात्मनि।

यत्र यत्र मनो याति, तत्र तत्र समाधय॥

मैं कर्ता, मैं मनुष्य, मैं सुखी, मैं दुःखी इत्यादि प्रकारसे रहा हुआ देहाभिमान जिसका क्षीण हो गया है, और सर्वोत्तम पदरूप परमात्माको जिसने जान लिया है, उसका मन जहाँ जहाँ जाता है वहाँ वहाँ उसे समाधि ही है।

आपके पत्र अनेक बार सविस्तार मिलते हैं, और उन पत्रोंको पढ़कर पहले तो समागममें ही रहनेकी इच्छा होती है। तथापि....कारणसे उस इच्छाका चाहे जिस प्रकारसे विस्मरण करना पड़ता है, और पत्रका सविस्तार उत्तर लिखनेकी इच्छा होती है, तो वह इच्छा भी प्रायः क्वचित् ही पूरी हो पाती है। इसके दो कारण हैं। एक तो इस विषयमें अधिक लिखने जैसी दशा नहीं रही है, और दूसरा कारण है उपाधियोग। उपाधियोगकी अपेक्षा वर्तमान दशाका कारण अधिक बलवान है। जो दशा बहुत निःस्पृह है, और उसके कारण मन अन्य विषयमें प्रवेश नहीं करता; और उसमें भी परमार्थके विषयमें लिखते हुए केवल शून्यता जैसा हुआ करता है; इस विषयमें लेखनशक्ति तो इतनी अधिक शून्यताको प्राप्त हो गई है; वाणी प्रसंगोपात्त अभी इस विषयमें कुछ कार्य कर सकती है; और इससे आशा रहती है कि समागममें ईश्वर अवश्य कृपा करेगा। वाणी भी जैसे पहले क्रमपूर्वक बात कर सकती थी, वैसी अब नहीं लगती। लेखनशक्ति शून्यताको प्राप्त हुई जैसी होनेका कारण एक यह भी है कि चित्तमें अद्भूत बात बहुत नयोंसे युक्त होती है, और वह लेखनमें नहीं आ सकती, जिससे चित्त वैराग्यको प्राप्त हो जाता है।

आपने एक बार भक्तिके सम्बन्धमें प्रश्न किया था, उसके सम्बन्धमें अधिक बात तो समागममें हो सकती है, और प्रायः सभी बातोंके लिये समागम ठीक लगता है। तो भी बहुत ही संक्षिप्त उत्तर लिखता हूँ।

परमात्मा और आत्माका एकरूप हो जाना(!) यह पराभक्तिकी आखिरी हद है। एक यही लय रहना सो